ISSN: 2456–4397 RNI No.UPBIL/2016/68067 Vol-4* Issue-11* February- 2020
Anthology : The Research

संस्कृत वाङ्मय में मानवीय मूल्य

सारांश

वैदिक संस्कृति में मानव का जीवन उल्लासमय तथा आशामय था, निरन्तर आगे बढ़ने की लालसा थी। वैदिक मन्त्रों में सर्वत्र यही ध्वनि प्रतिध्वनित होती है। ऋग्वेद के प्रत्येक मन्त्र में मानव–जाति के कल्याण की भावना निहित है। ऋषि मुनियों ने न केवल अपने लिए अपितु समस्त मानवता के लिए साधना की थी, और उन्हें उत्दात्त मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया था। प्रकृति के मध्य मेघ, नदी, विद्वान, मित्र, शिल्पकार, नौका, स्त्री, पुरुष सभी के कृत्यों का उन्होंने वर्णन किया और लोकहित में लगने के लिए उन्हें प्रेरित किया। मित्रता और प्राणिमात्र के प्रति गहरी संवेदनशीलता उनका धर्म था। शक्ति और आरोग्यता में उनका पूर्ण विश्वास था। वे पशु–पक्षियों तक को निरोगी देखना चाहते थे। प्रकृति के मध्य सभी जड़–चेतन पदार्थ उनकी सहानुभूति के पात्र थे। कर्म मनुष्य के जीवन के वे आधार हैं, जिनके द्वारा उसका समस्त जीवन और भविष्य परिचालित होता है, परन्तु कर्मों के मनोरथ रूपी सागर में पड़ा–पड़ा मनुष्य बूढ़ा हो जाता है और कर्मों का अनुष्ठान करने से बचता रहता है।

बिन्दु सिंह
एसोसिएट प्रोफेसर/अध्यक्षा
संस्कृत विभाग
कर्मक्षेत्रस्नातकोत्तर महाविद्यालय
इटावा, भारत

प्रस्तावना

वेद भारतीय संस्कृति के सर्वाधिक प्राचीन एवं अमूल्य निधि हैं। वेदों की दृढ़ आधारशिला पर ही भारतीय धर्म तथा सभ्यता का विशाल प्रसाद प्रतिष्ठित है। वेदों में भारतीय जन–जीवन की अनादि अनुभूतियों का सत्य विद्यमान हैं। ये अनादिकालीन अनुभूतियां किसी एक व्यक्ति की अनुभूतियां नहीं है। अपितु सदियों तक हमारे महान ऋषियों ने प्रकृति के मध्य बैठकर उस परम्पिता परमात्मा के सान्निध्य और कृपा से प्राप्त किया है। मनुष्य संसार के सर्वाधिक रहस्यमय प्राणियों में से एक है। इसके उत्पत्ति और विका, संचेतना और आत्मा, भौतिक और रासायनिक संरचना सभी अन्वेषणों के विषय बने हुये हैं। भारत में इसे एक और विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार स्वयं क्रियता के द्वारा लम्बे समय के विकास की प्रक्रिया का परिणाम माना जाता है। तो दूसरी ओर ईश्वर (ब्रह्म) के निर्देशन में इसी रूप में उत्पन्न एवं गतिमान प्राणी माना जाता है।

ऋग्वेद में मानव के अनेक पर्यायवाची शब्द प्राप्त है। जैसे – मर्त, मनुष्य, मर्त्य, मर्य, धव, जन, जन्तु, हरी, नर, पुरुष, नहुष आदि 'मन्' धातु से व्युत्पन्न मन मनुष्य की मननशीलता को दर्शाते हैं। ऋग्वेद में मनुष्य शब्द का प्रयोग अधिकांशतः चिंतनशील एवं हस्तकौशल के अर्थ में किया गया है।[1] यास्क के अनुसार वे मनुष्य इसलिए कहलाते हैं क्योंकि वे अपने कार्यों को चिंतन के पश्चात् करते है।[2]

ऋग्वेद में व्यक्ति के लिए मर्त्य के अतिरिक्त मर्त और मर्य शब्द का भी प्रयोग होता है। मर्य का अर्थ है जो मरणशील है।[3] सायण ने इसका अभिप्राय मनुष्य से किया है। ऋग्वेद के प्रथम् मण्डल की एक ऋचा में आये 'मर्त्य' शब्द में मनुष्य का अर्थ समाहित है –''हे अग्नि तुम्हारा जो महान कर्म है उससे बड़ा न तो देवता का है, न मनुष्य का।'

'नहि देवो न मर्त्यो महस्तव क्रतुं परः।'[4]

एक अन्य ऋचा में आये 'मर्त' शब्द का अभिप्राय भी मनुष्य है। वहां कहा गया है – परिश्रम पूर्ण कर्मों का उत्साह से सम्पादन करके यज्ञ प्रर्वतकों ने मर्त होते हुये भी अमरता प्राप्त की। ऋग्वेद में मनुष्य के लिए धव शब्द का प्रयोग हुआ है। धव शब्द 'धु' कम्पन धातु से व्युत्पन्न है।[5] जिनके अंग कम्पायमान हैं अर्थात् जो शरीर को कार्य में लगाते समय इस अवस्था में होते है अथवा जो मृत्यु से कांपते रहते हैं अथवा युद्ध करते हैं। ऋग्वेद में मनुष्य के लिए हरि शब्द का प्रयोग हुआ है। यह 'हृ' धातु से निष्पन्न है।[6] पदार्थों का हरण करने अथवा मृत्यु के द्वारा बलपूर्वक हरण किये जाने के कारण वह 'हरि' है।

व्यक्ति की अत्यन्त महत्वपूर्ण धारणा 'पुरुष' शब्द में समाहित है। पुरुष शब्द का सर्वप्रथम विवरण ऋग्वेद के 'पुरुष' शब्द में समाहित है।

पुरुष शब्द का सर्वप्रथम् विवरण ऋग्वेद के 'पुरुष' सूक्त में उपलब्ध होता है।[7] सायण उसे प्राणी समूह की समष्टि के रूप में स्थित ब्रह्माण्ड शरीर विराट् आख्या वाला बताते हैं। निरुक्तकार के अनुसार पुरुष का अभिप्राय पुर अर्थात् शरीर में निवास करने वाला है। ये पूर्णार्थक धातु से व्युत्पन्न है।[8]

सर्व प्राण समष्टि रूपो ब्रह्मण्ड
देहो विराडाख्यो यः पुरुष सोऽयं या सहस्त्रशीर्षा

परमात्मा सर्वत्र पूर्ण है जिसका साक्ष्य सवेताश्वर उपनिषद में उपलब्ध है। शतपथ ब्रह्माण्ड में पुरुशेते व्युत्पत्ति मिलता है।[9] मनुष्य मात्र की प्रतिष्ठा उसके मूल अर्थात् मूल्य के साथ युक्त रहने के कारण बनी रहती है। 'मूल्य' शब्द स्वतंत्र रूप से तथा जीवन मानव आदि पदों के साथ उत्तर पद के रूप में प्रयुक्त होकर वर्तमान में एक विशिष्ट अर्थ में परिभाषित है। यह शब्द प्रतिष्ठा अर्थ की वाचक मूल धातु के साथ यत् प्रत्यय जुड़ने से बनता है। तद्नुसार मूल शब्द का शाब्दिक अर्थ हुआ 'प्रतिष्ठा के योग्य'। अमरकोश के टीकाकार कृष्ण मित्र ने 'मूल शब्द का अर्थ किया 'मूलेनानाभ्यम' अर्थात् मूल से न झुकने योग्य। वृक्ष की प्रतिष्ठा तब तक है जब तक उसका मूल स्थिर है। वृक्ष का आरम्भ मूल से है। मनुष्य की मनुष्यता एवं प्रतिष्ठा का कारण भी मूल या मूल्य है। समाज का प्रमुख व्यक्ति 'मूल–पुरुष' कहलाता है। नवीन सकारात्मक चिन्तन या विचार 'मूल–विचार' कहलाता है। इस प्रकार किसी भी वस्तु को अपने मूल से हर समय जुड़े रहना उसमें प्रतिष्ठित रहना तथा कभी भी उससे अलग न होना मूल्य है। मूल से जुड़े रहना मूल्य की अनिवार्य शर्त है, जो वस्तु जिस कार्य के लिए है, उसका उसी में उपयोग मूल्य है तथा उससे अलग उपयोग अवमूल्यन है। ऋग्वेद में मूल्य का पर्यायी शब्द 'वस्न' व्यवहृत है। वस्तन शब्द वस् धातु से न प्रत्यय के योग से बना है जिसका अर्थ है जो उसमें निवास करता है। मूल्य सदा मूल में निवास करता है।

मनुष्य अपने ज्ञान, विवेक एवं चेतना के विकास के साथ संसुस्कृत एवं श्रेष्ठतम् मनुष्य के सृजन के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहा। इस प्रयत्न में उसने मूल्यों एवं मूल्य तथा संस्कारपरक संस्थाओं का सृजन किया और मूल्यों तथा संस्थाओं के विकास एवं ह्रास का उत्तरदायी भी स्वयं रहा। ये मूल्य एवं संस्थाएं अलग–अलग समाजों (संघों) में अपने बेहतरी को ध्यान में रखकर निर्मित किये गये जो समकालीन भौतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों एवं परम्पराओं के सापेक्ष थे। दूसरे शब्दों में – किसी देश – काल व परिस्थिति में जन सामान्य की उदात्त मान्यताएं ही मानव मूल्य की संज्ञा से अभिहित हुयी । जहाँ तक ऋग्वेद में मानव मूल्यों के सन्दर्भ का प्रश्न है वहाँ आश्चर्यजनक रूप से श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों का वितरण प्राप्त है। इनमें ऋत्, सत्य, अहिंसा, मैत्री, अभय, विवेक, बुद्धि, दानशीलता, पवित्रता, कर्म (परिश्रम) समता, सुभावना और माधुर्य मुख्य है। यद्यपि भाष्यकारों ने इनकी अलग–अलग व्याख्या प्रस्तुत की है तथापि सभी में आन्तरिक एकता देखी जा सकती है।

'ऋत' को ऋग्वेद में प्रतिपादित चरित्रगुणों में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। ऋग्वेद में ये शब्द तीन प्रमुख विचारों का सूचक है – ब्रह्माण्ड नियम यज्ञ व धर्म की नियमितता और नैतिक नियम् ऋत् सदाचार का मानदण्ड है। जहां यह कार्य करता है वहां अव्यवस्था या दुराचार नहीं रहता। देवताओं को ऋत् के पालक, ऋत् के प्रेमी और ऋत् से सम्पन्न कहा गया है। ऋत् की शक्तियां बहुत है और उसकी बृद्धि पापों को नष्ट करती है।[10] ऋत् के मार्ग से जाने वाली ही सुगम् और कण्टक रहित मार्ग पाते हैं।[11] वरुण ऋत् के अधिष्ठाता और सर्वोच्च नियामक देव हैं। वरुण के ऋत् में ही हम सर्वप्रथम मानवों के लिए निर्धारित नैतिक कार्यक्रम के दर्शन होते हैं। ऋत् से प्रेरणा प्राप्त करके ही प्राचीन भारतीयों ने नैतिकता के नियमों को जन्म दिया।

'सत्य' ऋत् का सहोदर है ऋग्वेद के अनुसार महान् दीप्तिमान तप से ऋत् और सत्य पैदा हुए है।[12] संसार को यदि ऋत् चलाता है तो मानव जीवन को सत्य चलाता है। ऋत् ही मानव जीवन में सत्य कहलाता है। कष्ट सहकर भी मनुष्य को सत्य के मार्ग पर दृढ़ रहना चाहिये। ऋत् और सत्य का मूल यौगिक भाव है – ''प्रगति और अस्तित्व। वचन और कर्म दोनों से ही सत्य के पालन की प्रतिज्ञा की जानी चाहिए।'[13] स्पष्ट है कि ऋत् और सत्य दोनों ऋग्वैदिक काल में मानवीय मूल्य हैं।

'अहिंसा' वैदिक आचारों में प्रमुख है। आर्यों ने अपने देवताओं को हिंसा रहित अहिंसक आदि गुणों से विभूषित किया है।[14] देवों से हिंसा रहित धन प्रार्थनीय है।[15] इस प्रकार अहिंसक बुद्धि की याचना की गई है।[16] इन्द्र हिंसकों तथा दुष्ट, हन्ता शत्रुओं के विनाशक देवता हैं। मन्त्रों में हिंसकों के विनाश और अहिंसकों की सुरक्षा की कामनाएं वैदिक आर्यों की अहिंसा में दृढ़ आस्था व्यक्त करती है। स्पष्ट है ऋग्वेद में अहिंसा भावना को मानव मूल्य के रूप में मान्यता दी गई है।

'मैत्री' भाव वेदों में सर्वत्र दृष्टव्य है। वहां सब प्राणियों को मित्रवत् देखने की कामना की गई है, देवों से मित्रता चाही गयी जिससे वे समय पर सहायक हो। ऋग्वैदिक ऋषि का यह प्रतिपादन

मैत्री भावना की प्रशस्ति है कि – जो विद्वान मित्र को छोड़ देता है उसकी वाणी में कोई फल नहीं रहता वह जो कुछ सुनता है व्यर्थ ही सुनता है वह सत्कर्म का मार्ग नहीं जानता है।[17] मित्र के हित की सदा आकांक्षा करना मित्रता का सबसे बड़ा गुण माना गया है। इन्द्र को हितकारी मित्र कहा गया है।[18] इस प्रकार ऋग्वैदिक काल में सबके प्रति सहानुभूति सहयोग, प्रेम और उपकार का भाव मानसिक संकीर्णता त्यागकर व्यापक दृष्टि ग्रहण करने का परिचायक है।

'अभय' जैसे उत्कृष्ट मानव मूल्य की स्थापना 'मा भैषीः' जैसे ऋग्वैदिक प्रार्थनाएं करती हैं समानता, स्वतंत्रता और स्वावलम्बन, निर्भयता से ही प्रश्रय प्राप्त करते हैं। रिचाओं में स्वाभाविक रूप से एक–दूसरे के प्रति अभय की भावना व्यक्त की गई है। हे अग्ने ! तुम हमें दृष्ट और अदृष्ट भयों से बचाओं।[19] हे द्यावापृथिवी ! यहां अभय होवे, सूर्य, चन्द्र हमारे लिए निर्भयता सिद्ध करें[20] इत्यादि प्रार्थनाओं से प्रगट होता है कि निर्भयता ऋग्वैदिक आर्यों का अभिसिप्त गुण था।

'मेधा', धी या विवेक बुद्धि मनुष्य को सांसारिक प्राणियों में श्रेष्ठ बनाती है। इसलिये ऋग्वेद में सद्बुद्धि प्रार्थनीय है। सविता! देव प्रज्ञा को प्रेरित करें।[21] इन्द्र बहुविध बुद्धि प्रदान करें[22] अग्नि बुद्धि को ले आये23 इत्यादि प्रार्थनाओं में बुद्धि की कामना की जा रही है तो दूसरी ओर दुबुर्द्धि निवारण के लिए भी प्रार्थना है।[24] यहां श्रेष्ठ एवं सफल जीवन जीने के लिए बुद्धि की अभिलाषा की गयी है। जो श्रेष्ठ मानव जीवन के रूप में यहां वर्णित है।

'दान' मानव का गुण है। ऋग्वैदिक मंत्रों में इसकी एवं प्रतिष्ठ देखी जा सकती है। वैदिक ऋषि का कथन है – दाता सदा अदाता के ऊपर रहता है।[25] दाताओं की मृत्यु नहीं होती है [26] अग्नि देवता से प्रार्थना है कि हमें दानशीलता (दिति) दे और कन्जूसी (अदिति) से हमारी रक्षा करें [27] प्रतिस्पर्धा की तुलना में दानशीलता श्रेयष्कर है।

'पवित्रता' वाह्य एवं अभ्यान्तर दोनों स्तर पर आवश्यक है। ऋग्वैदिक काल में वैराग एवं निराशावादी जीवन दर्शन नहीं था। फिर भी वे तपोमय एवं रागरहित जीवन पद्धति से परिचित थे तथा वृत्तों नियमों एवं मंत्रों से दैवी सिद्धियां प्राप्त करने में उनका विश्वास था। [28] सविता देवता से ऋग्वेद के एक मंत्र में प्रार्थना की गयी है कि वे स्तोता को दर्शनार्थ पवित्र करें।[29] अन्यत्र कहा गया है कि विद्या मनुष्य को पवित्र करती है।[30] पवित्रता विषयक प्रार्थनाएं यजुर्वेद में भी बहुलता से प्राप्त होता है।

'कर्म' के बिना मनुष्य श्रेष्ठ नहीं होता। ऋग्वेद के अनुसार मनुष्य अपने महान् कार्यों से प्रसिद्ध होता है – ''कर्मभिमर्महदियः सुश्रुतोभूत्''[31] अन्यत्र कहा गया बिना परिश्रम के देवताओं से मित्रता नहीं मिलती।[32] तात्पर्य यह है कि देवता भी उसी की सहायता करते है जो कर्म (परिश्रम) करता है कर्म प्रशन्सनीय है जहां कर्म वहीं पर सुख है[33] जिस प्रकार इन्द्र आदि देवता उत्तम् कर्मों के कारण श्रेष्ठ हुये उसी प्रकार उत्तम् की लक्ष्य प्राप्त के लिए आवश्यक है यही ऋक्सहिता का संदेश है। अक्षसूक्त उद्यम् का ही उपदेश देता है।

'सद्भावना' भी वैदिक आर्यों का मूल्य था। वे सभी को सुखी या सम्पन्न देखना चाहते थे। इसलिए अधिकांश प्रार्थनाएं बहुवचन में है। मनुष्य मात्र को सद्भावना और सौहार्द का उद्देश्य देने वाली ऋग्वैदिक ऋचाएं साहित्य की अनमोल निधियां हैं। संज्ञानम् सूक्त [34] का समष्टि भावना का प्रचारक सूक्त है। इसमें सभी मनुष्यों को सामंजस्य की प्रेरणा दी गयी है।

'माधुर्य' गुण (वाणी का) मानव जीवन की श्रेष्ठता के लिए श्रेयष्कर है। वाणी की मधुरता से एकता और सद्भावना अधिक बलवती होती है। सविता देव 'अद्रोहवाक्' है। इसीलिये वह सुखस्वरूप (सुवेशम्) है। अहिंसक वाक्यों से युक्त वाणी का प्रयोग मनुष्य को सुख और शुभ की ओर ले जाता है।

अन्ततः हम कह सकते हैं कि उपरोक्त अवधारणाओं से ही भारतीय चिन्तन में मानवीय मूल्यों का विकास सम्भव हुआ। भारतीय समाज और संस्कृति में जिन मानवीय मूल्यों को मनुष्य की श्रेष्ठता अथवा मानवता का आधार माना जाता है तथा जिन सद्गुणों एवं नैतिक आचारों को अनुकरणयी कहा जाता है। उन सभी विचारों की स्थापना ऋग्वेद में दिखाई दिती है।

सन्दर्भ

1. ऋग्वेद – 1.77.3
2. ऋग्वेद – 115.2
3. ऋग्वेद – 1.5.10, 30.30, 64.13 आदि
4. ऋग्वेद – 1.19.2
5. ऋग्वेद – 3.59.2
6. ऋग्वेद – 1.16.1, 164.47, 3.43.6
7. ऋग्वेद – 10.90.1
8. ऋग्वेद – 10.90.1 सायण भाष्य पृष्ठ 288
9. शतपथ ब्राह्मण – 13.6.2.1
10. ऋग्वेद – 4.23.81
11. ऋग्वेद – 1.41.4
12. ऋग्वेद –
13. ऋग्वेद – 1.113.4
14. ऋग्वेद – 1.31.13, 1.33.1
15. ऋग्वेद – 1.85.3, 6.22.10
16. ऋग्वेद – 7.67.5
17. ऋग्वेद – 1071.21
18. ऋग्वेद – 3.55.21
19. ऋग्वेद – 10.7.7

20. ऋग्वेद – 10.63.7
21. ऋग्वेद – 3.62.10
22. ऋग्वेद – 1.5.3
23. ऋग्वेद – 1.22.10
24. ऋग्वेद – 8.67.15, 10.76.4
25. ऋग्वेद – 10.117.7
26. ऋग्वेद – 10.107.8
27. ऋग्वेद –
28. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि .....पृष्ठ 89
29. ऋग्वेद – 9167.25
30. ऋग्वेद – 1.3.10
31. ऋग्वेद – 3.36.1
32. ऋग्वेद – 4.33.12
33. ऋग्वेद – 3.3.3